

# बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 27-05-16

## कामकाजी आधी आबादी के लिए मुश्किलें बिछाती है दुनिया सारी

श्यामल मजूमदार

मॉन्स्टर सैलरी इंडेक्स ने भारत में महिला और पुरुष के वेतन में अंतर से जुड़े कुछ खुलासे किए हैं। उनमें सिर्फ एक-दो पहलू को छोड़ दिया जाए तो कुछ हैरान करने वाली बातें सामने आई हैं। इसमें मालूम पड़ा कि सूचना प्रौद्योगिकी (आईटी) क्षेत्र में यह अंतराल 34 फीसदी है, जिसके बारे में माना जाता है कि वहां अपेक्षाकृत बेहतर कुशल प्रतिभाओं को नियुक्ति मिलती है। इससे भी ज्यादा खतरनाक संकेत यही है कि एक साल पहले की तुलना में यह खाई 29 फीसदी के स्तर से अधिक हो गई है। तमाम लोग इसके लिए भारतीय उद्योग जगत के हलकों में कायम मानसिकता को दोष देते हैं, जहां तमाम संस्थान महिला कर्मियों की तुलना में पुरुष कर्मियों को वरीयता देते हैं और अहम पदों पर अधिक से अधिक पुरुष कर्मियों को प्रोत्साहन देते हैं, भले ही ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है जो यह दर्शाता है कि यदि उचित माहौल मिले तो कोई महिला कर्मी पुरुष कर्मी से कमतर साबित होती है।

मगर वह कहानी का एक पहलू भर है। कंपनियों का कहना है कि ऐसा वेतन खाई अंतराल इसलिए कायम है क्योंकि महिलाएं कार्यस्थल-परिवार दायित्वों के बीच झूलती हैं, जहां उन्हें अपने परिवारों की देखभाल के लिए दफ्तर से अधिक समय छुट्टाई की दरकार होती है, जिससे उनके पेशेवर जीवन में अंतराल आते रहते हैं। जब तक वे नौकरी के बाजार में वापस लौटती हैं तो मौके अक्सर उनके हाथ से निकल जाते हैं। साक्ष्य दर्शाते हैं कि पेशेवर जीवन के मध्यांतर तक जब काफी अनुभव हासिल हो जाता है तो उस समय स्वैच्छिक सेवानिवृत्ति

लेने वालों में पुरुषों की तुलना में महिलाओं का आंकड़ा दो से तीन गुना तक अधिक होता है।

वास्तव में तमाम अन्य एशियाई देशों के उलट भारत में महिलाओं का प्रतिनिधित्व कनिष्ठां से मझोले स्तर की नौकरियों में ज्यादा देखने को मिलता है, जबकि दूसरे देशों में यह रुझान मझोले से वरिष्ठां पदों के स्तर पर दृष्टिगत होता है। मिसाल के तौर पर आईसीआईसीआई समूह द्वारा कराया गया विश्लेषण दर्शाता है कि आईसीआईसीआई बैंक में कुल कर्मियों में तादाद के अनुपात में कनिष्ठां प्रबंधन स्तर पर महिलाओं के प्रतिनिधित्व में 2 फीसदी की अधिक कमी देखने को मिलती है। इसे दूसरे शब्दों में समझें तो अगर सभी स्तरों पर महिलाओं की 25 फीसदी भागीदारी है तो छोड़ने वाले कर्मियों की तादाद में उनकी हिस्सेदारी 27 फीसदी है।

परिणामस्वरूप इससे उच्च स्तर पर प्रतिभाओं की आपूर्ति प्रभावित होती है। आंकड़ों ने यह भी दर्शाया कि एक तिहाई महिलाओं ने फिर से काम इसलिए नहीं शुरू किया क्योंकि घर पर उनके बच्चों की देखभाल के लिए किसी प्रकार के सहारे का अभाव था। यह उस परिकल्पना को खारिज कर देता है कि पेशेवर जीवन से बाहर निकलने या उसमें पुनः प्रवेश करने को लेकर संगठनों का महिलाओं पर कोई नियंत्रण होता है। काम के लिए लचीली नीतियां या विस्तारित अवकाश पेशेवर जीवन में ऊंची महत्वाकांक्षा रखने वाली महिलाओं को प्रोत्साहित कर सकते हैं, जहां 78 फीसदी महिला स्नातक संगठित कार्यबल का हिस्सा बनने का विकल्प नहीं चुनती हैं।

यह इस तथ्य से भी जाहिर होता है कि भारत उन देशों में शामिल है, जहां महिला श्रम शक्ति भागीदारी (एफएलएफपी) दर काफी कम है, जिसे आमतौर पर रोजगार योग्य महिलाओं की आबादी में कार्यरत या कार्य तलाश रही महिलाओं की हिस्सेदारी के रूप में मापा जाता है। उभरते बाजारों और विकासशील देशों के बीच अंतराष्ट्रीय मुद्रा कोष के पिछले वर्ष प्रकाशित पत्र में यह रुझान पेश किया गया। वर्ष 2012 में राष्ट्रीय स्तर पर तकरीबन 33 फीसदी स्तर के साथ भारत की एफएलएफपी दर 50 फीसदी की वैश्विक दर और 63 फीसदी की पूर्वी एशियाई दर से काफी कम थी। 33 फीसदी एफएलएफपी दर का अर्थ यही है कि रोजगार योग्य तकरीबन 38 करोड़ महिलाओं में केवल 12.5 करोड़ महिलाएं ही पेशेवर जीवन में सक्रिय हैं।

अगर महिला और पुरुष के वेतन में अंतर की बात करें तो निश्चित रूप से भारत इसमें कोई अपवाद नहीं है। 'द इकॉनमिस्ट' ने कॉर्न फेरी के एक विश्लेषण का हवाला दिया है, जिसमें 33 देशों के कर्मियों पर नजर डाली गई है और उसमें निष्कर्ष निकला कि पुरुषों की तुलना में महिलाएं 18 फीसदी कम कमाती हैं। हालांकि फेरी के विश्लेषण में एक दिलचस्प पहलू भी है, वह यही कि संयुक्त अरब अमीरात में वेतन अंतर का रुझान उलटा है। एक ही स्तर, कंपनी और दायित्व के पैमाने पर महिलाएं अपने पुरुष साथियों की तुलना में वास्तव में 2 फीसदी ज्यादा कमाती हैं और ऐसा कुछ हद तक इसलिए भी है कि केवल कुछ ही महिलाएं श्रमशक्ति का हिस्सा बन पाती हैं और उनमें भी केवल वही, जिनके पास उच्च शिक्षा होती है। यह भारतीय आईटी क्षेत्र में निरंतर बढ़ते वेतन अंतर को और भी पेचीदा बना देता है। अमेरिका पर विचार कीजिए। सर्वविदित है कि अमेरिका में अगर पुरुष किसी काम के लिए 1 डॉलर कमाता है तो उसके लिए ही महिला केवल 78 सेंट पाती है। एक अमेरिकी शोध समूह कैटालिस्ट ने कहा है कि महिलाएं जिस रफ्तार से बड़ी कंपनियों के निदेशक मंडलों में जगह बना रही हैं, उस दर से भी उन्हें पुरुषों की बराबरी करने में 70 साल लग जाएंगे। ऐसा लगता है कि जहां तक महिला और पुरुष के वेतन में अंतर का सवाल है तो इस पर पूरी दुनिया का सोच एक जैसा है।

---



Date: 26-05-16

## हस्तक्षेप बनाम संतुलन

आजकल संसद यानी विधायिका, सरकार यानी कार्यपालिका और अदालतों यानी न्यायपालिका के एक-दूसरे के अधिकार क्षेत्र में दखलंदाजी का मसला चर्चा में है। एक केंद्रीय मंत्री तो यहां तक कह चुके हैं कि न्यायपालिका विधायिका का अतिक्रमण कर रही है और उसे स्वयं ही अपने लिए एक लक्ष्मण रेखा खींच कर रखनी चाहिए। यह ठीक है कि समय-समय पर उच्चतम न्यायालय ने सरकार को कुछ काम करने की सलाह और कभी-कभी आदेश भी दिए हैं, लेकिन ऐसे सब मामलों को उनके सही संदर्भ में देखना जरूरी है। इस संदर्भ में दो संवैधानिक सिद्धांतों को याद रखना जरूरी है। इनका उल्लेख फ्रांसीसी दार्शनिक मोंतेस्क्यु ने 1748 में किया था। ये सिद्धांत हैं-अधिकारों का पृथक्करण और नियंत्रण एवं संतुलन। पहले सिद्धांत अधिकारों के पृथक्करण का मतलब है कि एक सक्षम लोकतंत्र में तीन स्वतंत्र स्तंभ होने चाहिए-विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। इन तीनों के कार्यक्षेत्र अलग-अलग होने चाहिए और उन्हें अपना काम करने की पूरी स्वतंत्रता होनी चाहिए। एक स्तंभ को दूसरे के काम में दखल नहीं देना चाहिए। यही लक्ष्मण रेखा है, जिसका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। दूसरे सिद्धांत-नियंत्रण एवं संतुलन का मतलब है कि अगर कोई एक स्तंभ अपना काम ठीक से न करे या डगमगाए तो बाकी दो स्तंभों का कर्तव्य बनता है कि वे उसे संभालें और उस पर नियंत्रण और उसका संतुलन करें।

किसी एक स्तंभ द्वारा दूसरे स्तंभ को संभालने को ही कभी-कभी लक्ष्मण रेखा का उल्लंघन भी समझा जा सकता है। उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयों के ऐसे बहुत से फैसले हैं जिनमें उन्होंने विधायिका और कार्यपालिका के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप करने से साफ इंकार

कर दिया, लेकिन कुछ मामले ऐसे हैं जिनमें इस तरह का हस्तक्षेप हुआ। इस संदर्भ में हमें एक और स्थापित कानूनी सिद्धांत को याद रखना चाहिए। यह सिद्धांत कहता है कि यदि कानून में कोई कमी है या किसी मुद्दे पर कोई कानून नहीं है तथा विधायिका को उस कानून को बनाने का समय नहीं मिला या उसकी ऐसी इच्छा या इच्छाशक्ति नहीं है और इसके चलते जनहित का नुकसान हो रहा है तो न्यायपालिका को यह अधिकार है कि वह उपयुक्त दिशा-निर्देश दे। न्यायपालिका का यह अधिकार भी है और कर्तव्य भी। उसका दिशा-निर्देश केवल तब तक लागू रहेगा जब तक विधायिका उस विषय पर कानून न बना दे। कई उदाहरण हैं जिनमें न्यायपालिका ने कानून की कमी पूरी करके जनहित के नुकसान को रोकने या कम करने के प्रयत्न किए। पहला उदाहरण विधानमंडलों के चुनावों में उम्मीदवारों का अपनी आपराधिक, वित्तीय और शैक्षणिक पृष्ठभूमि बताने के शपथपत्र का है। जब दिल्ली उच्च न्यायालय ने इसके आदेश दिए तो भारत सरकार यानी कार्यपालिका ने इसके विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील की। तब उच्चतम न्यायालय ने उच्च न्यायालय के फैसले को उचित ठहराया तो संसद ने सर्वसम्मति से कानून बदला। उसको उच्चतम न्यायालय ने असंवैधानिक घोषित किया। तब जाकर 2003 से मतदाताओं को यह जानने का अधिकार मिला कि जो उम्मीदवार उनके मत के इच्छुक हैं उनकी आपराधिक, आर्थिक एवं शैक्षणिक पृष्ठभूमि क्या है। जब कुछ उम्मीदवार शपथपत्र के कुछ कॉलम खाली छोड़ने लगे तो उच्चतम न्यायालय को हस्तक्षेप कर यह कहना पड़ा कि अगर कोई उम्मीदवार शपथपत्र का कोई भी हिस्सा खाली छोड़ेगा तो उसका नामांकन स्वीकार नहीं किया जाएगा।

2014 में दिल्ली उच्च न्यायालय ने एक फैसले में दो मुख्य राजनीतिक दलों को विदेशी चंदा कानून का उल्लंघन करने का दोषी पाया और गृह मंत्रालय को उन दलों के विरुद्ध कानूनी कार्रवाई करने को कहा। कार्रवाई तो कुछ नहीं हुई, लेकिन विदेशी चंदा कानून में बदलाव लाने की कोशिश जरूर शुरू हो गई। 2016 के बजट बिल के जरिये विदेशी चंदा कानून में परिवर्तन कर दिया गया। ऐसा ही मामला सूचना अधिकार कानून का है। इसको लागू हुए एक दशक से ज्यादा समय हो गया है। जब इसे राजनीतिक दलों पर लागू करने की बात आई तो उन्हें परेशानी होने लगी।

जहां तक दखलंदाजी का सवाल है तो इसके दो मुख्य रूप देखने को मिलते हैं। एक तो यह कि विधायिका कानून बनाती है और कार्यपालिका उसे लागू करती है। जब कार्यपालिका कुछ

कानूनों को चुनिंदा वर्गों जैसे कि दलों, नेताओं पर या समृद्ध वर्गों पर सही तरह से लागू नहीं करती या कर नहीं सकती तब न्यायपालिका कहती है कि उसे सभी पर बिना किसी भेदभाव के लागू किया जाए तो विधायिका यानी राजनीतिक वर्ग नाराज हो जाता है। दखलंदाजी का दूसरा रूप तब देखने को मिलता है जब विधायिका कुछ विषयों पर कानून नहीं बनाती या जो कानून बने हैं उनमें उपयुक्त संशोधन नहीं करती, जिसकी वजह से जनहित को नुकसान होता है। राजनीतिक और चुनाव सुधार से कुछ मसले ऐसे ही हैं। ऐसे मसलों से जब यह शक होता है कि संकीर्ण राजनीतिक कारणों से कोई फैसला लिया जा रहा तो फिर जनहित याचिकाएं दायर की जाती हैं। दरअसल संतुलन बनाए रखने का दायित्व तीनों स्तंभों पर बराबर है, लेकिन जिस दौर से देश गुजर रहा है उसे देखकर लगता है कि यह दायित्व विधायिका पर ज्यादा है। पिछले कुछ सालों से संसद जिस तरह चल रही है उसका जिम्मेदार न्यायपालिका को तो नहीं ठहराया जा सकता। संसद की कार्यवाही देखकर तो यही लगता है कि विधायिका को नुकसान तो खुद राजनीतिक दल एकजुट होकर कर रहे हैं। मौजूदा माहौल में विधायिका, उसके अग्रणी नेताओं और संपूर्ण राजनीतिक वर्ग को इन पंक्तियों पर ध्यान देने की आवश्यकता है-एक गलती में सारी उम्र करता रहा/ मैला तो चेहरा था, आईना साफ करता रहा।

[ लेखक जगदीप एस छोकर, आइआइएम अहमदाबाद में प्रोफेसर, डीन एवं डॉयरेक्टर इंचार्ज रहे हैं ]

---



Date: 27-05-16

# चाबहार से कई मोर्चों पर सफलता

चाबहार समझौते से भारत और ईरान के बीच पुराने सांस्कृतिक संबंधों में फिर से बहार भी आएगी।



▲ कैलाश विजयवर्गीय ▲

मिलेंगे और भारतीय कंपनियों को भी निवेश करने के मौके मिलेंगे। देश में बुनियादी ढांचे का निर्माण और युवाओं को रोजगार के नए मौके मिलेंगे। प्रधानमंत्री की यह बात भी गौर करने वाली है कि यह समझौता उन लोगों के खिलाफ है और यह हमें मजबूती से खड़ा करेगा जिनका मकसद सिर्फ निंदोषों को मारना है।

चाबहार समझौते से चीन के साथ ही पाकिस्तान के मंसूबों को भी धात बतई गई है। पाकिस्तान ने बलूचिस्तान के ग्वादर पोर्ट को चीन के हवाले कर दिया है। ग्वादर पाकिस्तान के दक्षिण-पश्चिमी भाग में बलूचिस्तान प्रान्त में अरब सागर के किनारे पर स्थित एक बंदरगाह है। ईरान तथा फ़ारस की खाड़ी के देशों के नजदीक होने के कारण इसका सामरिक, राजनीतिक और आर्थिक महत्व है। बंदरगाह के जरिये पाकिस्तान चीन, अफ़ग़ानिस्तान और मध्य एशिया के देशों के साथ व्यापारिक संबंध बढ़ाने की कोशिश में लगा हुआ है। ग्वादर पोर्ट को विकसित करने का अभी काम चल रहा है। काम पूरा होने के बाद चीन मध्य एशिया और यूरोप के देशों तक संपर्क बढ़ाने में सफल हो जाएगा। ग्वादर पोर्ट को चीन के हवाले करने के बाद यह माना जा रहा है कि विपरीत हालातों में चीन और पाकिस्तान भारत को घेरने की रणनीति बना सकते हैं। यह बात भी सही है कि चीन ने ग्वादर के बाद जिस तरह से चाबहार पोर्ट को लेने में भी दिलचस्पी दिखाई, उससे यह आशंका

हो रही है कि क्या चीन कोई कूटनीतिक चाल चल रहा है। चाबहार के समझौते के बाद यह बात भी सामने आई है कि पिछले महीने ही चीन के एक प्रतिनिधिमंडल ने चाबहार पोर्ट के साथ ही एक औद्योगिक शहर बसाने के लिए योजना बनाई थी। चाबहार पोर्ट के साथ ईरान के साथ हुआ समझौता भारत सरकार की दूरदर्शिता का नतीजा है। प्रधानमंत्री मोदी ने चीन की तमाम कोशिशों के बावजूद चाबहार समझौते को सफल बनाया है। चीन के राष्ट्रपति चाबहार पोर्ट को लेकर इस साल जनवरी में ईरान भी गए थे और चीन-ईरान के बीच बंदरगाहों के विकास का बड़ा मुद्दा बताया था। ईरान की यात्रा के बाद चीन के मंसूबे धरे रह गए। भारत के परिवहन मंत्री नितिन गडकरी ने ईरान के साथ चाबहार पोर्ट को लेकर जिस समझौता पत्र दस्तखत किए थे, उसे चीन के लिए बड़ा जवाब माना जा रहा है। इस पोर्ट को अपने कब्जे में लेने की चीनी कंपनी चाइना हावर् इंजिनियरिंग ने पूरी कोशिश की थी। यही कंपनी पाकिस्तान के ग्वादर पोर्ट को विकसित करने का काम कर रही है। सच में भारत ने चीन और पाकिस्तान को ग्वादर पोर्ट का जवाब चाबहार से दे दिया है। अब इस पोर्ट के जरिये अफ़ग़ानिस्तान पहुंचने के लिए भारत को पाकिस्तान की मदद की दरकार नहीं होगी। चाबहार का एक बड़ा मकसद यह भी है कि पाकिस्तान को भारत और अफ़ग़ानिस्तान के बीच से हटाया जा सके। अफ़ग़ानिस्तान के राष्ट्रपति ग़नी ने भी साफ़ कर दिया है कि कोई भी देश भूगोल का बंदी नहीं है और हम अपनी इच्छा से इसमें परिवर्तन कर सकते हैं।

चाबहार समझौते से भारत और ईरान के बीच पुराने सांस्कृतिक संबंधों में फिर से बहार भी आएगी। ईरान में पहले भी और बाद के तमाम बदलावों के बावजूद भारत के साथ संपर्क कम नहीं हुए। यही बात प्रधानमंत्री मोदी ने भी कही कि इतिहास की उथल-पुथल में भी दोनों देशों ने एक दूसरे का संपर्क कभी नहीं खोया। सबसे खास बात यह भी है कि पिछले 15 साल में किसी भारतीय प्रधानमंत्री का यह पहला ईरान दौरा था। मोदी से पहले अप्रैल 2001 में तत्कालीन प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने तेहरान की यात्रा की थी। मोदी जी की यह यात्रा उस समय हुई है जब इस इस्लामिक गणराज्य से एक परमाणु कार्यक्रम समझौते के कारण लगे अंतरराष्ट्रीय प्रतिबंध को खत्म किया गया है। अब ईरान दोबारा विश्व से जुड़ने के लिए तैयार है। अलग-थलग रहने के उस दौर में अंतरराष्ट्रीय मंचों पर कुछ नकारात्मक मतों के बावजूद भारत ने पश्चिम के नेतृत्व में लगे प्रतिबंधों से

इतर एक स्वतंत्र सहयोगी रिश्ता ईरान के साथ कायम रखा। इसी कारण ईरान ने भारत से दोस्तान संबंध मजबूत करने की बात कही है। भारत को भी ईरान के रूप में एक अच्छा दोस्त मिला है। प्रधानमंत्री मोदी की ईरान यात्रा से दोनों देशों ने एक की जरूरत के मद्देनजर जो समझौते किए हैं, उनसे आतंकवाद और अपराध पर काबू करने में मदद मिलेगी। मोदीजी ने ईरान के राष्ट्रपति हसन रुहानी से फरमाया भी कि जन्तुत गरवे नफसे-खुद तमाम अस्त/जे-काशी पा-बे काशान नीम गाम अस्त। यानी एक बार गर हम मन बना लें, तो काशी से काशान की दूरी आधे कदम भी नहीं रह जाएगी। काशान ईरान का एक प्रांत है। भारत के प्रधानमंत्री ने भारत-ईरान की दोस्ती को इतिहास जितना पुराना बताते हुए कहा कि सदियों से हम कला एवं स्थापत्य, विचार एवं परंपराओं और वाणिज्य एवं संस्कृति के जरिये जुड़े रहे हैं। एक खास बात यह भी है कि मोदीजी ने 2001 में गुजरात में आए भूकंप के दौरान सबसे पहले मदद देने वाले ईरान की तारीफ भी की। हमें आतंकवाद के खिलाफ एक इस्लामिक गणराज्य से मजबूत आवाज मिली है। साथ ही मौजूदा दौर में सूफीवाद के महत्व को फिर से बताने की जरूरत भी है। जो लोग केवल मरने-मरने की बात करते हैं, उन्हें सूफीवाद की तरफ देखने की जरूरत है। सूफीवाद को भावना भारत के वसुधैव कुटुम्बकम् की अवधारणा में ही दिखती है। मोदीजी की इस यात्रा से जरदोजी, गोल्डोजी और चंदेरी शिल्प के ईरानी समाज से

जुड़े होने का सच भी सामने आया। ईरान के साथ हमारे गहरे होते राजनीतिक और सांस्कृतिक संबंधों के साथ ही व्यापार में तेजी से बढ़ोतरी होगी। ईरान में ईरान में भारतीय कंपनियों के निवेश के बाद विशेष आर्थिक क्षेत्र के विकास में तेजी आएगी। भारतीय कंपनियां यहां स्टील, यूरिया व अन्य उर्वरक फैक्ट्री लगाने में 20 अरब डॉलर तक का निवेश करेंगी। बाद में यह निवेश आगे और बढ़ सकता है। बाद में इस और तेजी आएगी। समझौतों पर दस्तखत के बाद नौवहन मंत्री नितिन गडकरी ने भी उम्मीद जताई थी और कहा कि बंदरगाह के आसपास करीब एक लाख करोड़ रुपये के निवेश की संभावना है। इसमें चाबहार क्षेत्र में लगने वाले पेट्रोसायन और प्राकृतिक गैस आधारित उद्योग भी शामिल हैं। ईरान ने फरजाद बी गैस व तेल ब्लाक को पूरी तरह से भारत को देने का प्रस्ताव किया है। इससे ऊर्जा क्षेत्र में भारत का फायदा होगा।

(लेखक भाजपा के राष्ट्रीय महामंत्री हैं)



Date: 27-05-16

## आतंकवाद पर दोहरा रवैया

भारत-ईरान के बीच चाबहार परियोजना काफी महत्व रखती है। जैसे चीन ने पाकिस्तान के ग्वादर बंदरगाह का इस्तेमाल किया है वैसे ही भारत भी इसका इस्तेमाल कर सकता है। विश्व के अनेक देश आतंकवाद को लेकर गंभीर तो दिख रहे हैं, लेकिन इन आतंकी संगठनों का मुकाबला कैसे किया जाए इस पर एक सहमति नहीं बन पा रही है। दुनिया के सबसे ताकतवर देश अमेरिका को ही ले लें। वह एक ओर तो आतंकवाद से लड़ने की बात करता है, लेकिन दूसरी ओर आतंकवादियों को बढ़ावा देने वाले देशों का लगातार समर्थन करता रहता है। अगर पाकिस्तान को लेकर अमेरिका के रवैये की बात की जाए तो वह पाकिस्तान को लगातार नसीहतें देता है कि वह आतंकवादियों के खिलाफ ठोस कार्रवाई करे नहीं तो सख्त कदम उठाए जाएंगे और जब कार्रवाई करने की बात आती है तो अमेरिका पाकिस्तान के साथ खड़ा हो जाता है। कभी अमेरिका पाकिस्तान को हथियार बेचने के चक्कर में रहता है तो कभी अफगानिस्तान में सहयोग के नाम पर वह पाकिस्तान पर मेहरबानियां करता रहता है। इन्हीं दोहरी नीतियों के कारण आतंकवाद पर अंकुश नहीं लग पा रही है। चीन भी इसी नीति के तहत आगे बढ़ रहा है। जब उसके नेता भारत के साथ बातचीत करते हैं तो आतंकवाद को लेकर गंभीर कदम उठाने की बात करते हैं और जब गंभीर कदम उठाने की बात आती है तो वे आतंकी देशों का साथ देने लगते हैं। चीन की यह दोहरी नीति हमें अभी कुछ महीनों पहले देखने को मिली जब भारत जैश-ए-मोहम्मद का सरगना मसूद अजहर पर प्रतिबंध लगाने की कोशिश कर रहा था तो चीन ने उसके विरुद्ध वोट करके भारत की उम्मीदों पर पानी फेर दिया। विकसित देशों द्वारा आतंक को लेकर



### वाईएस विष्ट

**चीन भी इसी नीति के तहत आगे बढ़ रहा है। जब उसके नेता भारत के साथ बातचीत करते हैं तो आतंकवाद को लेकर गंभीर कदम उठाने की बात करते हैं और जब गंभीर कदम उठाने की बात आती है तो वे आतंकी देशों का साथ देने लगते हैं। चीन की यह दोहरी नीति हमें अभी कुछ महीनों पहले देखने को मिली जब भारत जैश-ए-मोहम्मद का सरगना मसूद अजहर पर प्रतिबंध लगाने की कोशिश कर रहा था तो चीन ने उसके विरुद्ध वोट करके भारत की उम्मीदों पर पानी फेर दिया।**



जब दोहरा रवैया अपनाया जाता है तो इससे न केवल आतंकवाद पर लगाम कसने में कठिनाई होती है, बल्कि आतंकवादियों के हौसले भी मजबूत होते हैं। चीन काफी समय से पाकिस्तान की आर्थिक मदद करता रहा है। इसके अलावा चीन पाकिस्तान की आड़ में भारत के खिलाफ कुछ न कुछ साजिश करता रहा है। कभी वह पाक अधिकृत कश्मीर में सड़कें बनाकर तो कभी

ग्वादर बंदरगाह में मदद करके वह भारत के लिए परेशानी खड़ी करता रहा है, लेकिन अब भारत ने चीन को उसी की भाषा में जवाब देते हुए ईरान के साथ मिलकर चाबहार परियोजना पर समझौता किया है। चाबहार परियोजना भारत के लिए एक रणनीतिक कारक सिद्ध हो सकती है। चीन और पाकिस्तान के आर्थिक संबंधों को देखते हुए भारत और ईरान की चाबहार परियोजना काफी महत्व रखती है। जैसे चीन ने पाकिस्तान के ग्वादर बंदरगाह का इस्तेमाल किया है उसी तर्ज पर भारत भी चाबहार परियोजना का इस्तेमाल कर सकता है।

अगर हम आतंकवाद को लेकर पाकिस्तान की बात करें तो पाकिस्तान ने आतंकवादियों को दी जा रही मदद को कभी स्वीकार नहीं किया है, लेकिन उसके नेता गाहे-बगाहे सच्चाई कबूल कर ही लेते हैं। अभी कुछ दिन पहले पाकिस्तान के एक मंत्री ने कबूल किया था कि देश के आतंकी संगठनों के खिलाफ लीगल एक्शन नहीं लिया जा सकता, क्योंकि उन आतंकी संगठनों के साथ पाक सरकार भी मिली हुई है।

एक साक्षात्कार में जब पाकिस्तान के पंजाब प्रांत के कानून मंत्री राणा सनाउल्लाह से यह सवाल पूछा गया कि आतंकी संगठनों के खिलाफ पाकिस्तान सरकार लीगल एक्शन क्यों नहीं लेती तो उन्होंने कहा-जमात-उद-दावा और जैश-ए-मोहम्मद जैसे आतंकी संगठनों के खिलाफ हम लीगल एक्शन कैसे ले सकते हैं? इनके पीछे तो शासन का हाथ रहता है। भारत का तो शुरू से ही मानना है कि पाकिस्तान आतंकवादियों की मदद करता रहा है और अब यह बात पाकिस्तान के नेता भी स्वीकार कर रहे हैं, लेकिन कार्रवाई नहीं कर रहे हैं।

(लेखक एशिया डिफेंस न्यूज इंटरनेशनल से जुड़े हैं)



# THE ECONOMIC TIMES

Date: 27-05-16

## Capital goods policy contains little meat

The motive of the capital goods policy is noble, but its design is not energetic to advance the sector and expand the share of manufacturing in GDP. The policy fails to address the key problem of the lack of research to constantly innovate and upgrade capital goods as global manufacturing stands on the cusp of radical change. Developing basic industries “that make machines to make the machines needed for further development” made sense to achieve industrial growth during the Second Five-Year Plan. Policymakers seem to be stuck in a time warp. As India rapidly globalises, Indian industries need new methods of production, new materials, better robots and artificial intelligence to become competitive.

Automated assembly lines and the use of lean production techniques, mostly people-based, for example, helped Japanese carmakers. It showed that robots can work with people rather than replace them. Similarly, the use of artificial intelligence and big-data analytics will help Indian companies enhance their productivity and profits. India should gear up for advanced manufacturing in areas such as aircraft manufacture, materials, microelectronics and telecommunications. Strangely, telecom does even not figure in the list of equipment identified as priority sectors in the policy.

The policy recommends “adoption of the goods and services tax regime ensuring effective GST rate across all capital goods sub-sectors competitive with import duty after set-offs” to ensure a level playing field. A technology development fund for transfer of technology, purchase of intellectual property rights, design and drawings is fine. More important, India needs to develop a knowledge ecosystem that includes a good intellectual property regime to foster innovation and creativity.

---

Date: 27-05-16

# Geospatial Information Regulation Bill: Several issues are yet to be resolved

By Ashis Sarkar

In our country, the Survey of India (SoI) and the National Atlas and Thematic Mapping Organisation (Natmo) under the department of science and technology are the two government mapping agencies. In the 20th century, the SoI topographical maps were the only source of geospatial information for those conducting research in both geography, geomorphology and other spatial and earth sciences. Even now, they are very important to all the academic fraternity concerned with the earth, bio and social sciences and are included in the curricula of the plus two level, colleges and universities.

The Natmo mainly produces thematic maps used by ordinary, non-specialised people and usually have a lesser degree of accuracy. Until 1995, the SoI used to provide us the required geospatial information in the form of Indian topographical maps at various scales with the much needed simplification, generalisation and cartographic abstraction. Only those maps, covering the border areas, were restricted for ordinary people and even for the academic fraternity. They were used primarily by the defence department.

Interestingly, all the restricted maps are available in the libraries of European universities, the United States Geological Survey, and even in those of some of our neighbouring countries. However, many of us have procured those in our student and research life whenever we required them.

After 1995, the New Map Policy was introduced and the SoI introduced the publication of two categories of maps: OSM, or open series maps, that lack detailed

information, and DSM, or defence series maps, complete with accurate geospatial information. The first one is for academic purpose in schools, colleges and universities. The second one is for the defence department.

These days, students, scholars and teachers are facing great difficulties in their academic practice with OSMs that do not serve their purpose at all. The government of India now feels it necessary to enact a Bill to regulate the procurement, processing, presentation and use of geospatial information as far as the safety, security and identity of our country is concerned.

The issue, however, is entirely and purely (geo)political. We must remember that the partition of the eastern wing of India across Bengal on the eve of Independence could have been avoided if the then-British government did not ban the publication of 'Bengal in Maps' by the 'father of Indian geography', Professor S P Chatterjee, also the founder of Natmo and a friend of Prime Minister Jawaharlal Nehru. The seminal book was finally published only after Independence in 1949.

Currently, there is a large number of global positioning system and remotesensing satellites launched by almost all the advanced countries across the world — both sun-synchronous (where the satellite passes over any given point of Earth's surface at the same local solar time) and geosynchronous (where the satellite's orbital period is the same as Earth's rotation period). These satellites collect all kinds of terrestrial geospatial information including that of our country.

So can we regulate the procurement, processing and representation of these pieces of geospatial information by international agencies and countries? The reality: the issue is international. Another matter of concern is the 'resolution' of the geospatial information.

How can we believe that advanced nations do not have the technology to capture the geospatial information at sub-centimetre level?

In India, the National Remote Sensing Agency and the Indian Space Research Organisation (Isro) providing researchers the required geospatial information also doesn't come cheap. However, I have seen foreign research centres providing us the required geospatial information that is accurate at a sub-centimetre-level free of cost.

Finally, unmanned aerial vehicle technology — drones — has become very cheap and available even to ordinary citizens. It's easy to procure geospatial information about an area of interest and use it for any intended purpose. In this context, the proposed Geospatial Information Regulation Bill will not serve the actual purpose for which it is intended.

Yahoo India, Google India or some other private enterprise provides us much of the needed geospatial information with varying degrees of locational and temporal accuracy free of cost. They may relocate their office to other countries and sustain their business thereby affecting our employment and service sector.

Also, Bhuvan, the software application developed by Isro that provides access to users to 2D and 3D representations of the surface of Earth has not yet been popular with our students, scholars and teachers. The reasons for this need to be explored in detail.

And in today's geopolitics based on security and territorial concerns, these are issues to be resolved only at the international, transnational level, not via the Bill that has been currently drafted by the Indian government.

**The writer is editor-in-chief, Indian Journal of Spatial Science**

---

Date: 27-05-16

# Bankruptcy Code 2016: Just what the doctor ordered

By **Abizer Diwanji**

The Insolvency and Bankruptcy Code 2016 is one of the most forward-looking and contemporary legislations in recent times. It will establish some very basic principles of doing business in India. Having said that, the proposed law is currently, at best, an innovative plan awaiting correct execution.

The code makes a clear distinction between insolvency and bankruptcy. The former is a short-term inability to meet liabilities during the normal course of business. The latter is a longer-term view on the business. As all businesses cannot succeed, it is perfectly normal for some businesses to fail, making it important to emphasise on corrective action.

## No Life Sentence for Assets

The code carries a clear focus on quick decision-making, be it turnaround or liquidation. It emphasises the speedy release of scarce capital assets locked in a closed unit for productive use, apart from the early settlement of all stakeholder issues.

Until now, Indian promoters were presumed to have a divine right over their businesses. They were protected by multiple laws, each carrying its own bankruptcy rules. Indian courts have time and again granted stays liberally to avoid winding down, thereby delaying recovery, under the age-old premise that it destroyed assets and resulted in job losses.

Alack of timely action has caused more harm than solutions. The code amply clarifies that insolvency or bankruptcy is a commercial issue, backed by law to



enforce transparency and objectivity. It is not another law behind which the inevitable can be delayed. This now stands to replace all other bankruptcy proceedings in any other law, making it effective.

However, the other laws, including Recovery of Debts Due to Banks & Financial Institutions Act, the Securitisation and Reconstruction of Financial Assets and Enforcement of Security Interest (Sarfaesi) Act, and the Companies Act 2013, which impact bankruptcy directly or indirectly need to be amended or repealed to ensure that all existing laws are perfectly aligned with the code.

One of the code's most significant provisions is the waterfall mechanism — liquidation proceeds will be paid in the following sequential manner: secured creditors, workmen's dues for 12 months, employees other than workmen, unsecured creditors. The biggest commitment of the government has been with regards to government dues that have been made junior to most others.

Appropriate information-flow, establishment of a tribunal process and the provision to bring in responsible professionals to manage the process are some other benefits.

The present laws tend to protect only financial creditors, especially banking creditors. The new code also seeks to protect the interests of operational creditors. It provides for orderly and timely resolution of default and insolvency of companies, firms and individuals.

It, however, does not cover financial institutions and banks. The government is working through a task force for setting up a resolution corporation for financial institutions.

The full benefits of the code will be realised only when all stakeholders contribute to creating an ecosystem conducive to an effective, fair and expedient implementation of the code.

Banks and other creditors will have to recognise that insolvency and liquidation will need innovative solutions towards the structural and financial aspects of a business.

## From Test Match to T20

This also mandates the requirement of sufficient insolvency professionals, capable of objectively assessing businesses and able to turn them around or liquidate them, within a governance framework as defined by the code and other existing laws, with minimum court intervention. More importantly, these professionals will need to be held accountable for the fiduciary duties they are performing with penal provisions for negligence. India must adapt to global standards and set up an independent board for oversight at the earliest.

Information utilities — a system to verify defaults — is another important element to ensure that bankruptcies are correctly enforced. While this could operate like a credit bureau, the data therein needs to be collated and filed appropriately. The Reserve Bank of India could set this up as has been done for bad loans.

India has in excess of 5,000 pending insolvencies in its various courts. The legacy can't be burdened on the new National Company Law Tribunals (NCLTs). Debts Recovery Tribunals (DRTs) need to be formed. The code envisages 10 NCLTs and one DRT.

The code mentions using discretion in enacting the machinery, yet the system could be clogged with cases that may take time and, hence, beat its very purpose. Most regulations were all well-meaning and eager to find a resolution in a systematic manner as much as the current law does.

However, there has been misuse in the form of prescribing the processes in the regulation as a mere formality to achieve the desired objective. If the same is done with the Insolvency and Bankruptcy Code 2016, it will become just another piece of comprehensive legislation.

Satyam was revived under special rules and by a group of competent professionals. The same rules have simply been generalised rules in a law now. Also, a systematic winding down or revival through change is possible in India — whether promoter-

driven or for conglomerates — when the right rules are in place and implemented in earnest.

The writer is partner, financial services, EY

---



**Date: 26-05-16**

## **From plate to plough: A barren field**

### **NDA government's plans for agriculture are still to bear fruit.**

**Written by Ashok Gulati , Shweta Saini**

As the Modi government celebrates two years in office, any review of its functioning will be incomplete without examining its record on the farm front. In the two years (FY15 and FY16), while the economy grew at 7.2 per cent and 7.6 per cent respectively, agriculture and the allied sector grew at -0.2 per cent and 1.1 per cent. This implies an average growth rate of less than 0.5 per cent per annum of the sector that employs close to half the country's labour force.

Two years ago, the current government's election manifesto promised, among other things, to make Indian agriculture more "productive, scientific and rewarding". In particular, it mentioned to "take steps to enhance the profitability in agriculture, by ensuring minimum of 50 per cent profits over cost of production". In the case of irrigation, it promised to "introduce and promote low water consuming irrigation techniques and optimum utilisation of water resources". However, during these last

two years, farmers' margins over costs, which hovered between 20 and 30 per cent in most agri-commodities during the terminal years of UPA 2, have declined. In most agri-commodities, profitability is down to less than 10 per cent, and in some others, even negative. This was mainly due to back-to-back droughts in 2014 and 2015, downswing in global agri-prices, and lower-than-anticipated increases in procurement prices. Now, the government seems to have replaced the promise in the manifesto with the assurance that farmers' incomes will be doubled by 2022. The country awaits conceptual and operational clarifications on this new goal.

On the promise of efficient utilisation of water, there have been no major initiatives except slogans like "har khet ko paani" and "per drop, more crop". The Pradhan Mantri Krishi Sinchayee Yojana (PMKSY), under which these schemes are launched, lack the resources to fulfill any of these promises. The total expenditure budgeted under the PMKSY for FY17 is Rs 5,717 crore, which is far less than what is required to achieve the target of "har khet ko paani". In all probability, this slogan is likely to remain a dream for at least a decade.

However, the government can be lauded for at least three initiatives: Pradhan Mantri Fasal Bima Yojana (PMFBY), Jan Dhan and Direct Benefits Transfers (DBT) and e-National Agricultural Market (NAM).

On April 1, 2016, the Modi government launched a revised crop insurance scheme (PMFBY) to combat the farm crisis and agrarian distress. It is a commendable step in the right direction though it has come somewhat late. However, like with many schemes, this one too has been designed without sufficient groundwork, which will cripple its performance. For example, efficient and timely assessment of crop damage and payments needs installing automatic weather stations, digitisation of plots, linking them with Aadhaar and bank accounts, and using latest technologies ranging from drones and doves (low earth orbits) to satellites. This is still a work-in-progress and unless the PMO shows perseverance, it may fizzle out.

Second, the PMO gave high priority to financial inclusion and to Jan Dhan. As on May 4, about 22 crore Jan Dhan accounts had been opened with 61 per cent of them

in rural areas. Here too, challenges like increasing dormancy of agents, falling first-time accounts, and operational hiccups like lack of connectivity mar the system. Close to 27 per cent of the accounts are zero-balance. More than half of these accounts have not been utilised to receive payment from the government's welfare schemes or food and fertiliser subsidies through direct benefits transfer (DBT).

The Shanta Kumar panel suggested moving to DBT in both food and fertiliser subsidies, with a view to plug leakages that hover between 30 and 40 per cent of expenditure. The budgeted amount on food and fertiliser schemes is Rs 2,05,000 crore for FY17, plus pending bills of more than Rs 1,00,000 crore. If one shifted to DBT and put the savings in water management, the shape of agriculture and the fortunes of Indian farmers can change for the better.

Third, conceptualising and embarking on creating an unified electronic national-level farmers' market (e-NAM) is a bold step in the right direction. But if NAM is to succeed, one needs to streamline fees and taxes at state-level wholesale markets, reform agriculture produce market committees (APMCs), introduce grades and standards, etc. Further, encouraging commodity market trade will also help revive the price-discovery role of markets.

But all these are medium to long-term measures, which will take time to bear fruit. One only wishes that they were taken in the first year of the Modi sarkar. But it is better late than never. An average agri-growth of less than 0.5 per cent per year during FY15 and FY16 should prod the Modi government to robust action. Monsoon failure and collapse in global agri-prices are not in the hands of the government, but it is during such a crisis that a government's vision is tested.

Not surprisingly, farmers are unhappy and agriculture is stagnant. Farmer suicides are perversely high and rural indebtedness remains a grave issue. The government needs to move fast and deploy bold steps on the agri-front if it wants the farming community to benefit and poverty eliminated. An action-oriented mission-mode execution of agendas set by the well-meaning slogans, backed by sufficient resources may facilitate a turnaround.



**Date: 27-05-16**

## **The wrong metric**

### **Judge-population ratio is not the apt parameter to determine judiciary's strength.**

**Written by G. C. Bharuka**

WITHIN A fortnight of his impassioned appeal to the prime minister on the paucity of judges, the chief justice publicly announced that the Indian legal system currently requires over 70,000 judges to clear the backlog of cases in the country. This figure is based on observations made in a 1987 Law Commission report, “Judicial Man Power Planning”, which had recommended raising the strength of the judiciary to 50 judges per million people.

The Law Commission had itself, however, admitted that this “judge-population ratio” reasoning it had adopted for the recommendation, was based on “a very poor substitute for sound scientific analysis”. The commission had lamented that even after four decades of independence, we had not been able to organise even the minimum level of information, which could be the basis for concrete proposals on judicial manpower planning. The situation, unfortunately, is no different almost three decades later, though present-day technology offers ways to collect real-time data.

It has been repeatedly emphasised that timely disposal of cases is essential for maintaining the rule of law and good governance. It is also true that unless sufficient judicial resources are provided, the system cannot deliver timely justice. However, our policy makers have failed to devise an acceptable method to calculate the location-wise requirement of additional courts.

According to governments at the Centre and in the states, the requirement of additional courts in a particular region should be based on the case-load of the existing courts there. For these reasons, the Supreme Court had in *Imtiyaz Ahmad vs State of Uttar Pradesh (2012)* directed the Law Commission to undertake another inquiry and submit recommendations regarding the immediate measures for the creation of additional courts.

The commission, while once again expressing helplessness on the data front as it did in 1987, examined six different probable methodologies, including the “judge-population ratio basis”. It found that filing of cases per capita varied across states and was associated with economic and social conditions. It, therefore, concluded that while population might be an appropriate metric to measure the availability of services like healthcare and nutrition, it was not the apt standard to determine requirement of judicial services.

The commission, on the premise that it would be difficult to collect data for the “workload method”, also suggested an ad-hoc mechanism — “rate-of-disposal method” — for a rough and ready calculation, based on current efficiency levels of the subordinate judiciary, to ascertain adequate judge strength. This means a fall in judicial efficiency will create higher demand of judicial resources, which may, however, be counterproductive for the institution.

Ultimately, based on research in European and American courts, it was found that the “weighted caseload method” is the most appropriate measure for the purpose. Simply put, a weighted caseload system is used to convert the court caseload into the workload of the judge.

Cases vary in complexity, and each of them requires different amounts of time and attention from the judges. A mere headcount of cases pending with the judges can offer little help in distributing the workload equitably among them.

Workload in this context refers to the amount of a particular type of work, which a qualified person can handle within a determined time. The commission, though

having felt that this is the most scientific method, still did not recommend its adoption on the ground that, “all information required to run this model for Indian courts is not available”.

Undeniably, the system in India does not, at present, have any information about the time required by the judges to resolve each type of case. But with the government having invested over Rs 1,000 crore (with another Rs 1,600 crore in the pipeline) to equip the Indian judiciary with current technology, there cannot be any difficulty in collecting any type of data on a real-time basis.



**Date: 27-05-16**

## **Quell racism: India must ensure the safety and security of African nationals in the country**

In what could turn out to be a serious crisis for India-Africa relations, the Group of African Heads of Mission in New Delhi has registered a strong protest against racial attacks on African nationals. The development comes on the heels of the recent murder of Congolese citizen Masonda Ketada Oliver in the national capital. Oliver was beaten to death by three men after a verbal argument over hailing an autorickshaw. African envoys threatened to boycott the Africa Day celebrations. They even said that they were mulling advising their home governments not to send new students to India, until their safety and security could be ensured.

Government has taken cognisance of the issue and deputed minister V K Singh to work with African envoys to reassure African students about their safety, but more needs to be done. Numerous cases of attacks on African nationals betray racial prejudice. The victims often complain that local police aren't forthcoming in helping them. It's this racist mindset that's reflected in Goa minister Dayanand Mandrekar's earlier comment that Nigerians are like cancer (he did apologise for his outrageous statement later) or former Delhi law minister Somnath Bharti's infamous raid against African nationals in the capital city.

At a time when government is planning to revitalise India-Africa relations, harassment and abuse of visiting African nationals can undo all the good work in the diplomatic field. Racism in 21st century India is simply unacceptable. There's no denying that Africa is the future. Its middle class is burgeoning and it is one of the fastest growing regions of the world. This means there's huge economic potential in India-Africa relations. However, racism continues to be an extremely sensitive issue for most African countries. Hence, if India wants to do serious business with Africa, it simply can't tolerate racist attacks on African nationals here.

In this regard, special police cells to take care of African students' security needs should be set up expeditiously in major cities. Other government authorities dealing with African nationals need to be sensitised accordingly. Plus, given that racism is a social problem, Prime Minister Narendra Modi would do well to talk about the issue in his next Mann ki Baat broadcast and impress upon people to treat visiting Africans with respect and dignity. This would also serve as the perfect launch pad for his scheduled Africa visits in the near future.

---

Date: 27-05-16

# The court's future is in its own hands

ARGHYA SENGUPTA

## **The Supreme Court's attempt to orchestrate environmental governance in a case relating to diesel taxis in Delhi hurtles it towards a new frontier, and one for which it is wholly unprepared**

Alexander Hamilton, one of the authors of The Federalist Papers, foundational documents for the U.S. Constitution, presciently wrote that the judiciary “has no influence over either the sword or the purse”. Instead it only has its power of judgment, using which it must earn the respect of the people. Few courts have demonstrated the truth of this proposition more amply than the Supreme Court of India. At its inception in 1950, its greatness lay in the erudition of its judges, the majesty of the legal profession and the sheer breadth of power invested in it by the framers of the Constitution. As India evolved, so did the reasons for the Supreme Court's greatness — it was a court that spoke truth to power, with judges who were both erudite and conscious of their constitutional and social responsibilities. Popular respect for it was always undergirded by an unquestioned faith in judicial competence to do the right thing. Recent actions of the Supreme Court, however, present a worrying portend of how the court in its current avatar is likely to be perceived. Three factors have precipitated such a worry — first, its expansionist role attempting to orchestrate environmental governance in the case relating to vehicular pollution in Delhi; second, the intuitively incorrect legal bases for several such orders; third, an inadequate appreciation of its own institutional limitations. Taken



together, this expansionism means it is hurtling towards a new frontier of accountability, one for which it is wholly unprepared.

### The diesel taxi flip-flop

In a surprisingly bold move, the Supreme Court ordered all diesel taxis to cease operations in Delhi because the deadline for their conversion to CNG had expired. However after two days of continued protests and a fresh hearing, the court agreed to modify its order and allowed already registered taxis to ply, while at the same time preventing fresh registrations. Two aspects of the court order are particularly troubling — first, that repeated persuasion could force the court to change its mind. Nothing could be more antithetical to the dignity of a court of law than an insinuation that it is amenable to entreaty. This is especially so since traditionally courts have placed significant emphasis on finality. Second, the order of the court to ban diesel taxis in Delhi in the first place was contrary to law, common sense and practical reality. In pure legal terms, taxi owners had legitimate expectations that once a commercial licence was issued on particular terms, those terms would be respected. For the court, without finding those terms themselves faulty, to have modified them to the detriment of the taxi owners would upset their legally protected expectations.

Moreover, while the right to a pollution-free environment can be traced to Article 21 of the Constitution, it is neither a problem unique to Delhi nor the exceptional responsibility of taxi drivers to redress. In a recent survey, Delhi was found to be behind Gwalior, Allahabad, Patna and Raipur in the list of polluted cities. At the same time, while diesel taxis most certainly pollute, so do small diesel private vehicles, petrol cars, desert dust and a range of other sources, to varying degrees. For the court to justify special restrictions on taxis that requires their banning as well as treating Delhi as a special case, it would have to demonstrate that pollution by diesel taxis in Delhi was somehow of a distinct type warranting particularly stringent intervention. Needless to say, this is a futile exercise.

### A question of competence

The futility of such an exercise also underlines the fact that managing Delhi's pollution is simply not a task that is within the managerial competence of the judiciary. In Gerry Rosenberg's seminal book *The Hollow Hope*, he highlights the inability of the American Supreme Court to effectuate ground-level social change. This, according to him was owing to three constraints — a lack of independence, the limited text of constitutional rights and the inability to conceptualise and enforce holistic reform. While the Indian Supreme Court may have successfully overcome the first two, it is intrinsic to the judicial function that it is unable to enforce meaningful reform. An example will illustrate — the order (passed by an earlier Bench) to convert all diesel taxis with national permits but operating in Delhi to CNG failed to take into account the abject lack of CNG filling stations in States contiguous to the National Capital Region where such taxis most often travel. The States of Uttar Pradesh and Haryana (sans the National Capital Region) have 32 and three filling stations, respectively, Rajasthan has three (all in Kota), whereas Punjab, Himachal Pradesh and Uttarakhand have none. The combination of an openness to entreaty, a simplistic consideration of legal principles, and not taking its institutional limitations seriously has meant that the Supreme Court is increasingly seen as a court that runs government rather than one that dispenses justice. This is not per se objectionable — as the Supreme Court itself often points out, when other organs of government are recalcitrant, it cannot simply sit back and watch the Constitution being violated. However, the concern arises not from the fact that the court plays such a role, but how it does so. Recent episodes demonstrate that the court has rushed headlong into this task, determined to correct wrongs and uphold rights. It is important to note the incipient costs. Playing such a core governance function means that it is only a matter of time before people expect it to be accountable as government is — to provide in times of need, and to criticise it, perhaps even defy it when needs are not met. The protest by diesel taxi drivers is a warning sign in this regard. It is imperative that the court picks up on it and introspects on carving out a role in national governance that doesn't jeopardise its institutional credibility.

**Arghya Sengupta is Research Director of Vidhi Centre for Legal Policy, a Delhi-based legal think tank. Views are personal.**

---